योजना का एक दशक

बी.आर.शिनॉय (1962)

(B.R. SHENOY – ECONOMIC PROPHECIES)

*साठ के दशक में ही **बी.आर.शिनॉय** ने मुद्रास्फीति और सरकारीकरण से होने वाले नुकसान को भांप लिया था। उन्होंने इसके दुष्परिणामों के बारे में भी बार-बार चेतावनी दी थी। उनकी किताब "इंडियन प्लानिंग एंड इकानॉमिक डवलपमेंट" से लिए गए अध्याय में उन्होंने एक चेतावनी दी जिस पर 1992 में पहली बार ध्यान दिया गया जब उदारीकरण और वैश्वीकरण की लहर आखिरकार पूरे देश में छा गई थी..*

योजनाओं के आरंभ के बाद से हालांकि आंकड़ों के अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय में 42 फीसदी का इजाफा दर्ज किया गया है, लेकिन जहां तक बड़े पैमाने पर गरीबी की बात है तो इसमें कोई सुधार देखने को नहीं मिला है। आय में इजाफा रईसों के छोटे से ऊपरी हिस्से में ही देखने को मिला है। कुछ भाग माल संचय में और कुछ अनुपयोगी उत्पादन क्षमता में कुछ हिस्सा देखने को मिलता है। अगर आम आदमी के हिस्से में कुछ दिखता है तो वह खाद्य सामग्री और कपड़ों की कुछ खपत की कुछ मंद गति में देका जा सकता है। आज आय का वितरण आजादी से पहले के दिनों से भी ज्यादा असामाजिक है और हर योजना के बाद बेरोजगारी में इजाफा देखने को मिला है।

उल्लेखनीय कामयाबी तो केवल औद्योगिक उत्पादन में ही देखने को मिली है। लेकिन यह एक दिखावटी जीत है जो तुलनात्मक लागत के सिद्धांत के खिलाफ उत्पादन और कृषि और उपभोक्ता सामान उद्योग में आकर्षक निवेश की कीमत पर हासिल की गई है। इस वजह से इससे राष्ट्रीय उत्पाद में गिरावट दर्ज की गई है। इसके साथ भारी उद्योगों को प्राथमिकता ने राष्ट्रीय उत्पाद के विस्तार के एक अहम कारक रोजगार को आबादी में इजाफे के लिहाज से कमजोर कर दिया है। यही वजह है कि हर एक योजना के साथ बेरोजगारी में भी इजाफा होता चला गया है।

भारत में पिछले एक दशक की योजना ने आर्थिक विषमताओं की लंबी फेहरिस्त तैयार कर दी है, जो योजना से होने वाले नुकसान को बताती है। भले ही फिर हमारे योजनाकार हमेशा योजना के फायदे ही क्यों न गिनाते हों। हम इनमें से कुछ विषमताओं का जिक्र कर सकते हैं। योजना में मूल उद्देश्यों गरीबी हटाने और बेरोजगारी समाप्त करने के लिए हमें राष्ट्रीय उत्पाद को अधिक से अधिक बढ़ाना होगा। इससे यह जरूरी हो जाता है कि हम उपलब्ध संसाधनों का वहीं पर ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल होना चाहिए जहां पर उत्पादन सर्वाधिक हो। और फिर भी योजनागत खर्च का दो-तिहाई से भी कुछ

ज्यादा हम जबर्दस्ती भारी उद्योगों में झोंक देते हैं, जहां पर निवेश में इजाफे से राष्ट्रीय उत्पाद में इजाफा कुल निवेश का 20 फीसदी तक आंका जाता है। वह भी कृषि और उपभोक्ता सामग्री उद्योग की जगह, जहां राष्ट्रीय उत्पाद में इतने ही निवेश से 70 फीसदी तक का इजाफा देखने को मिल सकता है। इस परियोजना की विसंगति रोजगार के क्षेत्र में भी देखी जा सकती है। भारी उद्योगों में रोजगार के अवसर कृषि और उपभोक्ता सामग्री उद्योग की तुलना में 1/2 से लेकर 1/8 तक है।

पिछले लगभग एक दशक से हम हमने विदेशी मुद्रा की भारी कमी देखी है। फिर भी हम विदेशी मुद्रा अर्जित करने वालों को दंडित करते हैं- निर्यातक-और उपभोक्ताओं को विदेशी मुद्रा विनिमय

भारतीय संदर्भ में गरीबी के उन्मूलन के लिए खाद्य सामग्री और कपड़े के उत्पादन में इजाफे की दरकार है, दोनों की ही खपत दुखद रूप से कम है। लेकिन सूती कपड़ों के घरेलू उत्पादन में 69 फीसदी का योगदान और भारतीय औद्योगिक गतिविधि में दो-तिहाई भागीदारी रखने वाला सूती कपड़ा उद्योग कई जटिल और प्रतिबंधात्मक निर्देशों से घिरा हुआ है। टेक्सटाइल मिलों के उत्पादन में इजाफा और उनका आधुनिकीकरण बहुत तेजी के साथ कम होता जा रहा है। इस वजह से पिछले चार साल में कपड़े के उत्पादन में काफी सुस्ती आई है। आबादी में इजाफे के परिप्रेक्ष्य में कपड़े की कीमतों में तेजी से उछाल देखने को मिल रहा है। इससे आय उपभोक्ता की बजाय उत्पादक के खाते में जा रही है जिसे सरकार के कदम से एकाधिकार का फायदा मिला हुआ है।

तेजी से औद्योगिकीकरण की नीति का ही अनुसरण करते हुए हम बलपूर्वक उद्योगों की स्थापना करते हैं-आयात पर प्रतिबंध या अंकुश लगाकर और घरेलू निर्माताओं को प्रोत्साहन देकर-भले ही कई उद्योगों में हमारी उत्पादन लागत विदेशों से आने वाले सामान की तुलना में अलाभकारी ही क्यों न हो। परिणाम यह होता है कि नए उद्योगों का उत्पादन तभी फायदेमंद होता है जबकि घरेलू बाजार में कीमतों में उछाल आया हो। यह माल कीमत और गुणवत्ता के कारण विदेश में नहीं बेचा जा सकता।

जब हमें यह आभास होता है कि निर्यात की गति कम है तो हम निर्यात को बढ़ाने के लिए तमाम तरह के कृत्रिम उपाय करते हैं-निर्यात को प्रोत्साहन, आयात लाइसेंस, शासकीय व्यापार (state trading), द्विपक्षीय समझौते, करारोपण में राहत, माल ढुलाई और कर्ज, उत्पादकों पर निर्यात के लिए दबाव, आदि आदि-जो स्थिति को और अधिक बिगाड़ देता है। आधारभूत दिक्कतों के अपरिवर्तित ही रहने के कारण पिछले पांच सालों में निर्यात 625 करोड़ रुपए के आस-पास ही सीमित होकर रह गया है। इस बीच अलाभकर उद्योगों की स्थापना का काम पूरे उत्साह के साथ जारी है।

हम सार्वजनिक क्षेत्र के घाटे की पूर्ति के लिए अबाधित तौर पर धन मुहैया कराते रहते हैं। जब इससे कीमतों में उछाल आता है तो हम इसकी जवाबदेही थोपने के लिए 'असामाजिक तत्वों' की खोज आरंभ कर देते हैं। बैंकों और कारोबारियों पर लांछन लगाकर चयनात्मक कर्ज अंकुश और नियंत्रण (credit curb and control) चाहते हैं। नहरों में पानी के बहाव पर नियंत्रण से बाढ़ को नहीं रोका जा सकता और न ही ऐसे नियंत्रण मुद्रास्फीति कोष (inflationary funds) पर ही नियंत्रण हासिल कर सकते हैं। स्वाभाविक तौर पर ये उपाय कीमतों पर नियंत्रण में नाकारा साबित हुए। 1954-55 से कीमतों में 46 फीसदी का इजाफा देखने को मिला है। इस अनुभव के बाद भी घाटे की वित्त व्यवस्था (deficit financing) जारी है और जैसा कि हमने देखा यह काम और बड़े पैमाने पर हो रहा है।

सूती कपड़ों के घरेलू उत्पादन में 69 फीसदी का योगदान और भारतीय औद्योगिक गतिविधि में दो-तिहाई भागीदारी रखने वाला सूती कपड़ा उद्योग कई जटिल और प्रतिबंधात्मक निर्देशों से घिरा हुआ है।

आर्थिक विषमता का सबसे पुराना उदाहरण शायद विदेशी कारोबार और विदेशी भुगतान में देखा जा सकता है। पिछले लगभग एक दशक से हम हमने विदेशी मुद्रा की भारी कमी देखी है। फिर भी हम विदेशी मुद्रा अर्जित करने वालों को दंडित करते हैं-निर्यातक-और उपभोक्ताओं को विदेशी मुद्रा विनिमय में राहत देते हैं-यानी आयातक को। ऐसा हम निर्यातकों पर उनके वैध देय पर विदेशी मुद्रा के रुपए में रुपांतरण के वक्त जुर्माना ठोककर और आयातकों से उनके वैध विदेशी मुद्रा विनिमय पर कम वसूली से करते हैं।

सबसिडी और जुर्माने का इस पूरी तरह से अनुचित खेल को सरकार के विदेशी मुद्रा विनिमय पर एकाधिकार से अंजाम दिया जाता है। साथ ही रुपए की विनिमय दर को एकाधिकार के बेदर्दी के साथ इस्तेमाल से बहुत ज्यादा और कृत्रिम रखा जाता है। 1954-55 से लेकर 1960-61 के काल के दौरान रुपए ने विदेशों में खुले बाजार में विदेशी विनिमय मूल्य में 32 फीसदी की और घरेलू स्तर पर 30 फीसदी की गिरावट देखी है। सामान्य मूल्य सूचकांक में इसी काल में 42 फीसदी का इजाफा देखा गया है। सोने की वर्तमान घरेलू कीमत (119.70 रुपए प्रति 10 ग्राम), विदेशों में इसकी कीमत (53.58 रुपए प्रति 10 ग्राम) की तुलना में सवा दो गुना ज्यादा है।

और फिर भी हमें इस बात पर पूरा भरोसा है कि भारतीय रुपया, प्रधानमंत्री के शब्दों में, अब तक की सबसे 'मजबूत' स्थिति में है, यानी कि 'दुनिया की चंद मजबूत मुद्राओं में से एक।' और रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के गवर्नर के शब्दों में, यह 'अगले 10 से 15 वर्षों में तुलनात्मक रूप से ज्यादा भरोसेमंद मुद्रा (hard currency) बन जाएगी।'

रुपए की इस मजबूती न केवल हमारे अपने विश्लेषण पर निर्भर है, बल्कि 'अतिथि विशेषज्ञों'- 'व्यावहारिक विदेशी कारोबारी,' जिनका प्रधानमंत्री ने हवाला दिया था, और सी. डगलस डिलन, जिनका रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के गवर्नर ने हवाला दिया था, पर आधारित है। इन लोगों ने हमें उतना ही भरोसा दिलाया था कि जितना कि शायद रॉक ऑफ जिब्राल्टर ने भूमध्य सागर की रक्षा के दौरान रॉयल नेवी को दिलाया था। इसी के चलते प्रधानमंत्री ने रुपए की विनिमय दर व्यवस्थापन की तमाम बातों को 'शानदार बकवास' कहकर सिरे से खारिज कर दिया था। रिजर्व बैंक के गवर्नर को भी कहना पड़ा था कि एक समर्थ 'विशेषज्ञ' द्वारा रुपए के भविष्य को लेकर अच्छी भविष्यवाणी के बाद भी हमारे देश में चंद लोग हैं जो रुपए के बाह्य मूल्य को लेकर 'बेफिजूल की निराशावादी' बातों में उलझे हुए हैं।

हम भुगतान संतुलन के घाटे में सुधार के लिए हम मितव्ययिता के स्तर तक आयात पर प्रतिबंध या अंकुश लाद देते हैं। 1957-58 और 1958-59 के दो वर्षों में हमने निजी आयात में 38 फीसदी की कटौती की। सबसे ज्यादा असर 'विलासिता के सामान' पर पड़ा। लेकिन इसका आयातित सामान की मांग पर कोई असर नहीं पड़ा। मुद्रास्फीति और नियंत्रणों से उपजी काले धन ने इसका लगातार पोषण किया है।

प्रतिबंधित और सीमित आयात पिछले दरवाजे से बदस्तूर जारी रहा। बदले में राष्ट्रीय कोष को आयात शुल्क के मामले में करोड़ों का चूना लगा। आयात शुल्क तो स्मगलरों की जेब में अनुदान की तरह जाने लगा। स्मगल किए हुए आयातित सामान-जो मुफ्त तोहफा नहीं था-के लिए खुले आयात की ही तरह विदेशी मुद्रा का भुगतान जरूरी था, लेकिन तरीका अलग था। यही वजह रही कि भुगतान संतुलन के घाटे में कोई सुधार नहीं हो सका, फिर भले ही वैध आयात को हमने मितव्ययिता के स्तर तक क्यों न रखा हो। हम योजनागत खर्च के लिए आत्मनिर्भरता के तौर पर यह आंकड़ा दिखाते हैं कि उपभोक्ता सामग्री के आयात में 1954-55 के 25 फीसदी निजी आयात की तुलना में 1958-59 में 13 फीसदी तक की गिरावट आ गई।

इस बीच इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि आयातित सामान कस्टम के रास्ते आया या किसी अन्य मार्ग से, भुगतान संतुलन का घाटा मुद्रास्फीति और बढ़ते

इस बीच इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि आयातित सामान कस्टम के रास्ते आया या किसी अन्य मार्ग से, भुगतान संतुलन का घाटा मुद्रास्फीति और बढ़ते सरकारी नियंत्रण के बीच बढ़ता ही गया और 1955-56 पर समाप्त चार साल के 21 करोड़ रुपए की तुलना में 1959-60 में समाप्त चार सालों में 264 करोड़ रुपए तक पहुंच गया।

रुपए के विनिमय को 1958-59 तक बहुत ही अवास्तविक दर पर रखा गया-मुद्रास्फीति और

सरकारीकरण के कारण भुगतान संतुलन में उपजे अंतर को पूरा किया गया है- विदेशी मदद और मुद्रा कोष पर आंशिक धनादेश (partly draft on currency reserves) और बाद में तो पूरी तरह से विदेशी मदद पर धनादेश से।

अवास्तविक विनिमय दर, मुद्रास्फीति और सरकारीकरण के दुष्प्रभाव केवल निर्यात और भारतीय राष्ट्रीय उत्पाद तक ही सीमित नहीं रहे। यह प्रभाव उन देशों के करदाताओं पर भी पड़ा, जहां से यह विदेशी मदद आ रही थी। क्योंकि किसी चमत्कार के बगैर-जो कि आर्थिक आजादी की नीतियों से ही संभव है- भारत के इन विदेशी कर्जों के पुनर्भुगतान की संभावना न के ही बराबर है।

मदद करने वाले भले ही संपन्न होने के कारण इन कर्जों को शीतयुद्ध और उनके प्रति झुकाव न रखने वाले देशों को अपने पक्ष में करने की कीमत के तौर पर स्वीकार कर सकते हैं। लेकिन यह दुर्भाग्य भारत के माथे पर हमेशा एक कलंक की ही तरह रहेगा।

हम आयात लाइसेंसों के जरिये आयात का नियमन करते हैं। आयात के लिए जरूरी विदेशी मुद्रा का भुगतान रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया द्वारा आयात लाइसेंसधारकों को किया जाता है। विनिमय के लिए लिया जा रहा मूल्य, आधिकारिक मूल्य पर निर्भर है, जो कि हम पहले ही देख चुके हैं कि आजाद बाजार* के मूल्य से कम है। लेकिन आयातित सामान आजाद घरेलू बाजार की कीमतों पर बेचा जाता है, जो कि आयातित माल की लागत से कहीं ज्यादा होते हैं। यह अंतर-जो माल को देखते हुए 30 फीसदी से लेकर 500 फीसदी या ज्यादा भी हो सकता है-जो एक अप्रत्याशित है, आयात की गतिविधि में लिप्त लोगों, आयात लाइसेंस के व्यापारी और आयातित सामान के डीलरों के बीच ही समायोजित हो जाता है। यह आयात लाइसेंस, जो साल में दो बार दिए जाते हैं, पाने वालों के लिए सरकारीकरण का तोहफा है। इसका आकार सालाना 460 करोड़ रुपए तक का हो सकता है। अगर ट्रेजरी बिलों और शराब के लाइसेंसों की तरह आयात के लाइसेंसों की भी नीलामी होने लगे तो बड़ा या मुख्य भाग भारत सरकार के राजस्व में जाता, जो बजट घाटे को बजट लाभ में बदल देता।

मशीनरी और पूंजीगत माल का भारत में बड़े पैमाने पर उत्पादन करना मुद्रास्फीति और सरकारी योजनाओं की गलतियों में और इजाफा करना ही है। बेहतर गुणवत्ता और सस्ते

साथ ही इसने भ्रष्टाचार के घातक कारण को मिटा दिया होता, साथ ही भारी असामाजिक आय के स्रोत को भी। इसके विपरीत हमने तो बजट घाटे की पूर्ति के लिए मुद्रास्फीति और अपने पसंदीदा लोगों में लाइसेंस के बंटवारे को प्राथमिकता दी है। इस तरह से हमने भ्रष्टचार को जिंदा रखा है और समाजवाद के ढांचे पर देश की प्रगति के राष्ट्रीय उद्देश्य की अनदेखी भी की है।

आयात लाइसेंसों के कारण हुई असामाजिक आय में सरकारीकरण के अन्य तरीकों-अनुबंध, परमिट और रियायतों-से हुई आय को भी समान तरीके से जोड़ा जाना चाहिए और मुद्रास्फीति को भी। इस विषय पर आगामी पन्नों में हमने इस बात का अनुमान लगाया है कि ऐसी आय सालाना 750 करोड़ रुपए तक की हो सकती है। इसी अनोखे घटनाक्रम ने ही ज्यादा आश्चर्य में नहीं डालने वाले अमीरों के और अधिक अमीर होने के घटनाक्रम को जन्म दिया है। एक ऐसा नवधनाढ्य समूह भी उभरकर सामने आया है जो मुद्रास्फीति और सरकारीकरण की संतान हैं, इस प्रक्रिया में परंपरागत मध्य आय वर्ग के परिवार और अधिक गरीबी की ओर धकेल दिए गए।

इस आसानी से हासिल धन ने औद्योगिक केंद्रों और केंद्रशासित प्रदेशों और राज्यों की राजधानियों पर फिजूलखर्ची को भारी बढ़ावा दिया है। इस घटना के लिए खुद को जिम्मेदार मानने की बजाय हम संपत्ति की शान, ऐश्वर्य के दिखावे और कुछ खास वर्गों के रहन-सहन पर ऊंगलियां उठाने लगते हैं। जब तक सरकारीकरण रहेगा सामाजिक अन्याय, बेरोजगारी, गरीबी और संघर्ष भी कायम रहेगा।

त्रासदी यह है कि पिछले दशक या उससे कुछ ज्यादा वक्त में भारत की नीतियों ने विकास नहीं अराजकता को ही बढ़ावा दिया और विदेशी मदद उन्हीं नीतिगत उपायों में लगाई गई, जिनके कारण

हम भारी उद्योगों, भारी रसायनों और अन्य आधारभूत उद्योगों; आयातित माल की जगह लेने वाले माल का उत्पादन करने वाले उद्योगों की स्थापना की नीति को लागू करने के लिए लगातार प्रयासरत हैं। फिर भले ही इसके लिए हमें कृषि और छोटे उद्योगों की बलि क्यों न देनी पड़े। हमारा दोहरा उद्देश्य होता है विदेशी मुद्रा की 'बचत' -भुगतान संतुलन के घाटे की पूर्ति- और आर्थिक विकास की दर में तेजी। ये हमारे देश के आधुनिकीकरण के साहसिक सफर का ही भाग है।

अब भारत की भुगतान संतुलन की समस्या के लिए मशीनों या अन्य पूंजीगत माल (capital goods) का आयात नहीं है। आम मामलों में ऐसे आयात से भुगतान संतुलन पर दबाव नहीं बनना चाहिए, अगर निवेश, घरेलू बचत और विदेशी मदद में अंतर्निहित हो तो। और न ही आयात के घरेलू मशीनरी और अन्य विकल्पों से समायोजन से ही भुगतान संतुलन की स्थिति में सुधार किया जा सकता है। हमारी भुगतान संतुलन की समस्या का मूल तो मुद्रास्फीति और उत्पादन ढांचे में सरकारी नीतियों के कारण आया बिगड़ाव है। मशीनरी और पूंजीगत माल का भारत में बड़े पैमाने पर उत्पादन करना मुद्रास्फीति और सरकारी योजनाओं की गलतियों में और इजाफा करना ही है। बेहतर गुणवत्ता और सस्ते आयातित सामान की जगह सस्ते घरेलू विकल्प तैयार करने में संसाधनों का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल भी इसमें शामिल है। यह देख पाना मुश्किल है कि निवेश मूल्य की तुलना में राष्ट्रीय उत्पाद में 30-70 फीसदी तक

का योगदान देने वाले उद्योगों की तुलना में किस तरह से भारी उद्योगों में-जो निवेश के मूल्य का केवल 20 फीसदी तक ही राष्ट्रीय उत्पाद में जोड़ते हैं-संसाधनों का झोंकना भुगतान संतुलन की स्थिति को सुधार देगा। राष्ट्रीय उत्पाद के विस्तार को धीमा करने के इस अपव्ययी कदम से भला भुगतान संतुलन की स्थिति कैसे सुधर सकती है। लेकिन भारत ही नहीं तीसरी दुनिया के देशों में इस वहम को भारी समर्थन हासिल है।

भारत की विदेशी मुद्रा की बीमारी की जड़ें बहुत गहरी हैं और मुद्रास्फीति पर अंकुश के बगैर नहीं रोकी जा सकती और अगर हकीकत के धरातल पर बात की जाए तो सरकार के हाथ में नियंत्रण देने वाली नीतियों के खात्मे के बगैर यह संभव नहीं है। क्योंकि यही सरकारी नीतियां-जिनका आधार ही संसाधनों की उपलब्धता को नजरअंदाज करके खर्च और निवेश को बढ़ावा देना है-ही मुद्रास्फीति, जरूरत से ज्यादा निवेश और भारी फिजूलखर्ची का कारण हैं।

दूसरा, उत्पादन के ढांचे में भारी विसंगतियों, जिनको मुद्रास्फीति और सरकारी नियंत्रणों के चलते प्रोत्साहन मिला है, में भी सुधार की जरूरत है। आयात पर सरकारी अंकुश, औद्योगिकीकरण को सरकारी प्रोत्साहन (ये देखे बगैर कि उस उद्योग की आर्थिक उपयोगिता कितनी है) और मुद्रास्फीतिजनित मांग जो बाजार का पोषण करती है ने निर्यात उत्पादन के संसाधनों का रुख मोड़कर घरेलू बाजार के लिए उत्पादन की ओर कर दिया है।

इन्हीं कारकों ने ही आयातित सामान की घरेलू और अंतरराष्ट्रीय लागत में भारी और बढ़ते अंतर को जन्म दिया है। यही बात निर्यात के कई सामानों सोने के मामले में भी लागू होती है। घरेलू बाजार के लिए उत्पादन को निर्यात के उद्देश्य से उत्पादन और लागत के अंतर को पाटे बगैर घरेलू स्तर पर आर्थिक स्थिरता और अंतरराष्ट्रीय भुगतान में संतुलन साध पाना मुश्किल ही है। इन दो दशकों में हमने मुद्रास्फीति और एक दशक में योजना की जो उपलब्धियां हासिल की हैं, वे ही आर्थिक ढांचे में असंतुलन का कारण बनी हैं।

घरेलू बाजार से मुद्रास्फीति जनित मांग और लागत मूल्यों के अंतर को कम किए बगैर वापसी नामुमकिन है। लागत मूल्यों में अंतर को मुद्रास्फीति रोके बगैर अंकुश नहीं लगाया जा सकता। इसके लिए हमें उद्योगों की स्थापना में सरकारी हस्तक्षेप और तुलनात्मक लागत का विरोध करने वाले अन्य कदमों को रोकना होगा। साथ ही पिछली मुद्रास्फीति और सरकारी नियंत्रण के कारण तय रुपए की विनिमय दर में उचित सुधार करना होगा। निर्यात संवर्धन के लिए हम जो अनाड़ियों की तरह के उपाय अपनाते हैं, वे इस बात का खुलासा कर देते हैं कि हमने अभी तक समस्या की जटिलता को समझा नहीं है। अमेरिकी कांग्रेस को 22 मार्च 1961 के अपने संबोधन में राष्ट्रपति केनेडी ने लंबी अवधि में विदेशी मदद के वायदों को लेकर कहा था कि कम विकसित देशों, जो अनवरत विकास और आर्थिक अराजकता के बीच खड़े हैं, की आर्थिक तंगहाली किसी दिन अमेरिका की राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए परेशानी का सबब बन सकती है। हमारी परिस्थिति की त्रासदी यह है कि पिछले दशक या उससे कुछ ज्यादा वक्त में

भारत की नीतियों ने विकास नहीं अराजकता को ही बढ़ावा दिया और विदेशी मदद उन्हीं नीतिगत उपायों में लगाई गई, जिनके कारण यह स्थिति उत्पन्न हुई।

शीतयुद्ध में हमारी रणनीतिक बेहतर स्थिति की जानकारी होने के बाद हम इन नीतियों को बदलने के खिलाफ से हो गए हैं। अगर भारत की अर्थव्यवस्था का पतन अमेरिका की राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए खतरा है तो अमेरिकी प्रशासन के लिए जरूरी है कि वह यह जाने कि असंतुलन की शक्तियां जब हाथ से निकल जाएंगी तो पूरा ढांचा ही ढह जाएगा और फिर कितनी भी विदेशी मदद किसी काम की नहीं रहेगी।

इस तरह सरकारी नियंत्रण के चलते योजना के आकार में कुछ वैसी ही आंतरिक गति आती है, जैसी कि पार्किनसन रोगी में होती है। इसी प्रेरक बल के कारण निवेश में इजाफा

भारत की अर्थव्यवस्था को वर्तमान नीतियों से पहुंच रहे अनवरत नुकसान के बाद भी, यह एक मायूसी भरी उम्मीद ही है कि बेहतर नीतियां वक्त के साथ स्वतः ही इनकी जगह ले लेंगी-'दिग्गज योजनाकार' और अन्य शक्तिशाली निहित स्वार्थी तत्व भारी दबाव के अलावा इन्हें नहीं छोड़ने वाले। सरकार का नियंत्रण लाइसेंस, परमिट, अनुबंध, कोटा और रियायतों के जरिये काम करता है। ये सरकारी कागज पाने वाले भारी और आसान लाभ कमाते हैं-मुद्रास्फीति के नाहक लाभों को छोड़कर भी सकल लाभ सालाना 750 करोड़ रुपए तक पहुंच जाता है- जिसके लिए उनके पास न तो कोई नैतिक हक है और न ही आर्थिक। इसमें दिग्गज योजनाकारों को सरकारी नियंत्रण के कारण वरिष्ठ अधिकारियों और सार्वजिनक क्षेत्र और कुछ हद तक निजी क्षेत्र के अन्य रोजगारों पर मिले नियंत्रण से जोड़ दीजिए। जितनी बड़ी योजना, इन सरकारी दस्तावेजों का अधिकार क्षेत्र उतना ही बड़ा हो जाता है और अधिकारियों और रोजगार वितरण का भी। इस तरह सरकारी नियंत्रण के चलते योजना के आकार में कुछ वैसी ही आंतरिक गति आती है, जैसी कि पार्किनसन रोगी में होती है। इसी प्रेरक बल के कारण निवेश में इजाफा देखने को मिला। पहली योजना का 3760 करोड़ रुपए का निवेश दूसरी योजना तक 7900 करोड़ रुपए और तीसरी योजना तक 12350 करोड़ रुपए तक पहुंच गया था। घरेलू संसाधनों की कमी भी योजनाकारों के हाथ नहीं बांध सकी। वे संसाधनों की कमी के अंतर को विदेशी मदद और मुद्रास्फीति से पाटना चाहते हैं। उन्होंने मुद्रास्फीति के परिणामों और विदेशी मदद के बोझ की भी परवाह तक नहीं की।

इस तरह सरकारी योजनाओं को खारिज करने की बजाय, जो उनके सपनों को साकार करने वाली कामधेनु है, इससे लाभ पाने वाले और इसके समर्थक आखिरी सांस तक इसका समर्थन करेंगे। एक ऐसी संसद जहां व्यावहारिक विपक्ष नदारद हो, 80 फीसदी से ज्यादा वोटर निरक्षर हों, यूरोप और अमेरिका की तरह जनमत वाले लोकतांत्रिक समुदाय का अभाव हो, शिक्षा और राजनीतिक अभियान

के जरिये जनजागरण एक बहुत ही मुश्किल काम है। हालांकि इस दिशा में काम करने के कई साहसिक प्रयास देखे गए हैं। नहीं लगता कि दिग्गज योजनाकारों की छुट्टी किए बगैर सरकारी नियंत्रणों से आजादी हासिल की जा सकती है।